और वितरण की व्यवस्था के महत्वपूर्ण गुण हैं। इतना तो उनके हित में होगा ही जिनके पास आर्थिक अवसरों का अभाव है। जहां तक समाज के उस अंग के प्रतिनिधियों का सवाल है जो ज्यादा अधिकार प्राप्त हैं, इससे उनमें श्रम के प्रति अधिक सहानुभूति पैदा होगी, मन का ऐसा स्वभाव बनेगा कि वे उपयोगी क्रियाकलाप में सुसंस्कृत करने वाले तत्वों को खोज सकेंगे, और उनमें सामाजिक जिम्मेदारी की भावना बढ़ेगी। दूसरे शब्दों में कहें तो इस समय व्यावसायिक शिक्षा से जुड़ा प्रश्न इस कारण निर्णायक स्थिति में है कि वह दो मौलिक प्रश्नों को विशिष्ट मुद्दे के रूप में प्रस्तुत करता है : क्या बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ उपयोग ऐसे क्रियाकलाप से या ऐसे क्रियाकलाप में हो सकता है जिसमें प्रकृति का मानव के लिए उपयोग होता है और क्या व्यक्तिगत संस्कृति अहंवादी अथवा सामाजिक स्थितियों में ज्यादा अच्छी तरह प्राप्त हो सकती है। इस अध्याय में कोई ब्योरेवार चर्चा नहीं की गई है, क्योंकि उपरोक्त निष्कर्ष में केवल उन चर्चाओं का सार दिया गया है जो पंदरहवें तथा उसके बाद बाईसवें अध्याय तक की गई हैं।

24. शिक्षा का दर्शन

1. एक समीक्षा : हालांकि हमने शिक्षा के विषय में चर्चा की है लेकिन शिक्षा की कोई निश्चित परिभाषा अभी तक प्रस्तुत नहीं की है; इस बात पर भी अभी तक कोई स्पष्ट चर्चा नहीं हुई है कि शिक्षा के दर्शन का स्वरूप क्या है। शिक्षा में जो दार्शनिक प्रश्न निहित हैं उनको प्रकाश में लाने के लिए हम इस प्रकरण में पिछली चर्चाओं में अंतर्निहित तार्किक क्रम का सार रूप में वर्णन करेंगे। विभिन्न दार्शनिक आदर्शों में अंतर्निहित ज्ञान तथा नैतिकता के सिद्धांत जिस रूप में व्यवहार में प्रयुक्त होते हैं उनकी अधिक विशिष्ट दार्शनिक रूप में संक्षिप्त चर्चा हम बाद में करेंगे।

तार्किक दृष्टि से पिछले अध्याय तीन भागों में विभाजित हैं :

(1) शुरू के अध्यायों में शिक्षा की चर्चा एक सामाजिक आवश्यकता तथा प्रक्रिया के रूप में की गई है। इन अध्यायों में प्रयोजन यह था कि शिक्षा की उस प्रक्रिया के सामान्य लक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत की जाए जिसके द्वारा सामाजिक समूह अपने अस्तित्व के क्रम को कायम रखते हैं। यह प्रदर्शित किया गया कि शिक्षा, हस्तांतरण की प्रक्रिया के द्वारा, अनुभव के अर्थों के नवीकरण की प्रक्रिया है; यह नवीकरण आंशिक रूप से वयस्कों और युवाओं के सामान्य साहचर्य अथवा आदान-प्रदान के दौरान आनुषंगिक रूप से होता है और आंशिक रूप से, सामाजिक निरंतरता को प्रभावी रूप देने के लिए साशय किया जाता है। यह भी बताया गया कि इस प्रक्रिया में अपरिपक्व व्यक्ति का तथा जिस समूह में वह रहता है उसका नियंत्रण और संवृद्धि निहित होती है। यह चर्चा इस दृष्टि से औपचारिक थी कि उसमें संबंधित सामाजिक समूह की गुणवत्ता का उल्लेख नहीं किया गया; इस बात का उल्लेख नहीं किया गया कि जिस समाज का शिक्षा के द्वारा अपने अस्तित्व को निरंतरता प्रदान करने का लक्ष्य होता है, वह किस प्रकार का समाज है। इस सामान्य चर्चा को विशिष्टता प्रदान करने के लिए उसको उन सामाजिक समूहों पर लागू किया गया जो सोद्देश्य प्रगतिशील होते हैं और जिनका लक्ष्य, अन्य समूहों की अपेक्षा यह होता है कि उनकी अधिक तथा विविध अभिरुचियों में पारस्परिक भागीदारी हो जबकि अन्य समूहों का लक्ष्य केवल पहले से स्थापित प्रथाओं को सुरक्षित रखना होता है। यह पाया गया कि ऐसे समाजों में लोकतांत्रिक गुण अपेक्षाकृत अधिक हैं क्योंकि उनमें सदस्यों को अधिक स्वतंत्रता मिली होती है और उनमें प्रमुख रूप से एक श्रेष्ठतर वर्ग के नियंत्रण में लागू प्रथाओं के बल पर निर्भर रहने के बजाए, व्यक्तियों में सचेतन रूप से समाजीकृत अभिरुचि उत्पन्न करने की आवश्यकता की चेतना होती है। अतः शिक्षा के अधिक विस्तृत विश्लेषण के लिए ऐसी शिक्षा को अभिव्यक्त रूप से एक कसौटी के रूप में स्वीकार किया गया जो एक लोकतांत्रिक समाज के विकास

के लिए उपयुक्त होती है।

(2) लोकतांत्रिक कसौटी पर आधारित इस विश्लेषण के बारे में यह कहा गया कि उसमें अनुभव के इस प्रकार के निरंतर पुनर्निर्माण अथवा पुनःआयोजन का आदर्श निहित है जिससे उसके मान्य अर्थ अथवा सामाजिक अंतर्वस्तु में ही वृद्धि नहीं होती वरन इस पुनःआयोजन को दिशा प्रदान करने वाले अभिभावकों के रूप में व्यक्तियों की क्षमता में भी वृद्धि होती है (देखिए अध्याय छह और सात)। इस अंतर के आधार पर विषयवस्तु और प्रणाली के लक्षणों की रूपरेखा प्रस्तुत की गई। उन दोनों की एकता की व्याख्या भी की गई, क्योंकि इस आधार पर अध्ययन और अधिगम की प्रणाली केवल अनुभव की विषयवस्तु के पुनःआयोजन के लिए सचेतन रूप से निर्दिष्ट संचालन का ही रूप है। इस दृष्टिकोण से अधिगम की प्रणाली और विषयवस्तु के मुख्य सिद्धांतों को विकसित किया गया (अध्याय तेरह और चौदह)।

(3) चर्चा के इस चरण में, विपरीत सिद्धांतों की प्रासंगिक आलोचना के बल पर सिद्धांतों के प्रतिपादन के अलावा, लोकतांत्रिक कसौटी को और वर्तमान सामाजिक जीवन में उसके व्यवहार को निर्विवाद स्वीकार किया गया। बाद के अध्यायों में (अठारह और बाईस) इस आदर्श की वास्तविक उपलब्धि की वर्तमान सीमाओं की चर्चा की गई। यह देखा गया कि ये सीमाएं इस विचार के कारण उत्पन्न हुई हैं कि अनुभव विभिन्न पृथक क्षेत्रों अथवा अभिरुचियों में बंटा होता है, जिनमें से प्रत्येक का अपना स्वतंत्र मूल्य, अपनी सामग्री, और अपनी प्रणाली होती है जो एक दूसरे को सीमित करते हैं और जब प्रत्येक को दूसरों के द्वारा, अपनी-अपनी सीमा में समुचित रूप से रोककर रखा जाता है तब शिक्षा में एक प्रकार का 'शक्तियों का संतुलन' होता है। इसके बाद हमने उन विभिन्न मान्यताओं का विश्लेषण किया जिन पर यह अलगाव आधारित है। व्यावहारिक पक्ष में उनका यह कारण पाया गया कि समाज में विभिन्न वर्गों तथा समूहों के बीच काफी कठोर विभाजन है अर्थात पूर्ण तथा लचीली सामाजिक अंतःक्रिया और आदान-प्रदान पूर्णतः बाधित है।

सामाजिक निरंतरता के इस व्यतिक्रम का बौद्धिक निरूपण विभिन्न द्वैतवादों तथा विरोधाभासों में पाया गया, जैसा विरोधाभास श्रम तथा अवकाश, व्यावहारिक तथा बौद्धिक क्रियाकलाप, मानव तथा प्रकृति, वैयक्तिकता तथा साहचर्य, संस्कृति तथा व्यवसाय में होता है। इस चर्चा के दौरान हमें यह ज्ञात हुआ कि इन विभिन्न मुद्दों के प्रतिरूप उन निरूपणों में भी हैं जो विभिन्न क्लासिकी दार्शनिक प्रणालियों में किए गए हैं; और उनमें दर्शनशास्त्र की प्रमुख समस्याएं अंतर्ग्रस्त हैं उदाहरणार्थ मन (अथवा आत्मा) तथा पदार्थ, शरीर तथा मन, मन तथा विश्व, व्यक्ति तथा उसके दूसरों से संबंध, आदि। हमने यह पाया कि ये विभिन्न प्रकार की पृथकताएं इस मौलिक मान्यता पर आधारित हैं कि मन उन क्रियाकलापों से पृथक है जिनका भौतिक स्थितियों, शरीर के अवयवों, भौतिक उपकरणों तथा प्राकृतिक वस्तुओं से संबंध होता है। नतीजतन एक ऐसा दर्शन निर्दिष्ट हुआ जिसमें मन की उत्पत्ति, स्थान तथा कार्यकरण के ऐसे क्रियाकलाप में होने को मान्यता दी गई जो पर्यावरण को

नियंत्रित करता है। इस प्रकार हम एक चक्र पूरा करके उन्हीं संकल्पनाओं पर आ पहुंचे जो इस पुस्तक के प्रथम भाग में दी गई हैं : जैसे कि मानवीय आवेगों और मूल प्रवृत्तियों की प्राकृतिक ऊर्जाओं के साथ निरंतरता रहती है; मन की संवृद्धि समान प्रयोजन के संयुक्त क्रियाकलापों में भागीदारी पर निर्भर होती है; भौतिक पर्यावरण सामाजिक माध्यम में प्रयोग किए जाने पर प्रभावी होता है; समाज के क्रमिक विकास के लिए इच्छा तथा चिंतन की व्यक्तिगत भिन्नताओं का उपयोग आवश्यक है; प्रणाली तथा विषयवस्तु में मौलिक एकता होती है; लक्ष्यों तथा माध्यमों में अंतर्भूत निरंतरता होती है; मन के बारे में यह मान्यता है कि वह चिंतनशील है और आचरण के अर्थों का प्रत्यक्षीकरण तथा परीक्षण करता है। ये संकल्पनाएं उस दर्शन से मेल नहीं खाती थीं जिसमें बुद्धि के बारे में यह मान्यता प्रचलित है कि क्रिया के द्वारा बुद्धि अनुभव की सामग्री का सप्रयोजन पुनःआयोजन करती है; और ये संकल्पनाएं उन द्वैतवादी दर्शनों से मेल नहीं खाती हैं जिनका उल्लेख किया गया था।

2. दर्शन का स्वरूप : अब हमारा यह कार्य है कि उपरोक्त विचारों में अंतर्निहित दर्शन से संबंधित विचार को स्पष्ट करें। जिन समस्याओं से उसका संबंध है उनके संदर्भ में हम दर्शन का वर्णन तो वस्तुतः कर ही चुके हैं, भले ही उसको परिभाषित न किया हो; और हमने यह भी बताया है कि यह समस्याएं सामाजिक जीवन के संघर्षों तथा कठिनाइयों से उत्पन्न होती हैं। ये समस्याएं मन तथा पदार्थ, शरीर तथा आत्मा, मानव जाति तथा प्रकृति, व्यक्तिगत तथा सामाजिक, सिद्धांत, अथवा जानना तथा व्यवहार, अथवा करना के संबंधों की है। जिन दार्शनिक प्रणालियों में इन समस्याओं का निरूपण किया गया है उनमें समकालीन सामाजिक जीवन की विशेषताओं तथा कठिनाइयों का लेखा है। प्रचलित अनुभव की गुणवत्ता के आधार पर मनुष्यों ने प्रकृति के बारे में, अपने बारे में, और उनकी संकल्पना के अनुसार, जो सत्ता मनुष्य तथा प्रकृति पर नियंत्रण रखती है उसके बारे में जो कुछ चिंतन किया है उसकी स्पष्ट चेतना इन दर्शनों में मौजूद है।

अतः, हमारी अपेक्षा के अनुसार, दर्शन को सामान्य रूप से ऐसे रूपों में परिभाषित किया गया है जिनमें विषयवस्तु तथा प्रणाली, दोनों की एक प्रकार की समग्रता, सामान्यता तथा परमत्व अंतर्निहित हैं। दर्शन में विषयवस्तु का बोध करने का, अर्थात विश्व तथा जीवन के बहुरूपी विवरणों को ऐसे एकल सम्मिलित अवयवी में एकत्र करने का प्रयत्न किया जाता है जो या तो एकान्विति के रूप में होता है, या जैसा कि द्वैतवादी प्रणालियों में होता है, उसमें बहुसंख्य विवरणों को अल्पसंख्य परम सिद्धांतों के रूप में परिणत किया जाता है। दार्शनिक की तथा उसके निष्कर्षों को स्वीकार करने वालों की मनोभावना में यह प्रयत्न लक्षित होता है कि अनुभव के संबंध में यथासंभव एकीकृत, सुसंगत तथा पूर्ण दृष्टिकोण अपनाया जाए। मनोभाव के इसी पक्ष की अभिव्यक्ति 'दर्शन' शब्द में होती है, यही प्रज्ञा के प्रति प्रेम है। जब भी दर्शन को गंभीरता से लिया जाता है तो उसके पीछे यह मान्यता होती है कि वह ऐसी प्रज्ञा की उपलब्धि का द्योतक है जो जीवन में आचरण को प्रभावित

करेगी। इसकी पुष्टि इस तथ्य से होती है कि प्राचीन काल की लगभग सभी विचारधाराएं संगठित तरीके से जीवन को जीने से भी संबंधित थीं; मध्यकाल में दर्शन का रोमन चर्च के धर्मशास्त्र से घनिष्ठ संबंध, उसका प्रायः धार्मिक हितों से संबंधित रहना और राष्ट्रीय संकट के समय में, उसका राजनीतिक संघर्षों से जुड़ना भी इसी बात की पुष्टि करता है।

जीवन से संबंधित दृष्टिकोण से दर्शन का यह घनिष्ठ संबंध दर्शन और विज्ञान के बीच के अंतर को भी स्पष्ट करता है। विज्ञान के विशिष्ट तथ्य तथा नियम स्पष्टतः आचरण को प्रभावित करते हैं। वे यह बताते हैं कि क्या करें और क्या न करें और कार्य निष्पादन के साधन भी प्रदान करते हैं। विज्ञान केवल विश्व के संबंध में खोजे गए विशिष्ट तथ्यों की सूचना का बोध नहीं कराता वरन उसके संबंध में सामान्य दृष्टि का भी बोध कराता है जो विशेष कार्यों को करने की दृष्टि से भिन्न है। ऐसी स्थिति में उसका दर्शन में विलय हो जाता है। क्योंकि उसके पीछे जो प्रवृत्ति काम करती है वह किसी एक या दूसरी वस्तु के प्रति अथवा ज्ञात वस्तुओं के समुच्चय के प्रति दृष्टि को परिलक्षित नहीं करती वरन उन विचारों को परिलक्षित करती है जो आचरण को नियंत्रित करते हैं।

अतः दर्शन को केवल विषयवस्तु की दृष्टि से परिभाषित नहीं किया जा सकता। इसी कारण सामान्यता, समग्रता और परमत्व जैसी संकल्पनाओं की परिभाषा विश्व के प्रति उस प्रवृत्ति के आधार पर सबसे आसानी से की जा सकती है जिसका वे बोध कराती हैं। ये पद, अपने शाब्दिक तथा मात्रात्मक अर्थ में ज्ञान की विषयवस्तु पर लागू नहीं होते क्योंकि उनमें पूर्णता तथा अंतिमता का नितांत अभाव है। अनुभव का स्वरूप ही (जिसमें निरंतरता होती है और परिवर्तनशील प्रक्रिया होती है) ऐसी पूर्णता तथा अंतिमता को वर्जित करता है। ये पद, अपेक्षाकृत कम अनम्य अर्थों में, दर्शन के बजाए विज्ञान पर लागू होते हैं। क्योंकि विश्व से संबंधित तथ्यों का पता लगाने के लिए हमें दर्शन की सहायता न लेकर, स्पष्टतः गणित, भौतिकी, रसायनविज्ञान, जैविकी, मानवविज्ञान, इतिहास, आदि की शरण लेनी होगी। यह बताना विज्ञान का काम है कि विश्व से संबंधित कौन से सामान्यीकरण मान्य हैं और अपने विशिष्ट रूप में वे क्या हैं। लेकिन जब हम यह पूछते हैं कि विज्ञान के द्वारा दी गई जानकारी से विश्व के बारे में हमसे किस प्रकार की स्थायी प्रवृत्ति अपेक्षित है तब हम एक दार्शनिक प्रश्न उठा रहे होते हैं।

इस दृष्टि से 'समग्रता' का अर्थ केवल यह नहीं है कि घटनाओं का निरर्थक मात्रात्मक आकलन किया जाए वरन यह अर्थ है कि जो बहुसंख्य घटनाएं घटित होती हैं उनके संदर्भ में होने वाली प्रतिक्रिया की विधि में एकरूपता हो। एकरूपता का यह अर्थ नहीं है कि उनमें शब्दशः तादात्म्य हो; क्योंकि एक ही घटना दोबारा घटित नहीं होती अतः प्रतिक्रिया की ठीक एक जैसी पुनरावृत्ति में थोड़ा कुसमायोजन होता है। समग्रता का अर्थ है निरंतरता यानी क्रिया की पूर्व आदत को ऐसा पुनः समायोजन करके जारी रखना जो उसे जीवित और विकासशील रखने के लिए आवश्यक है। वह क्रिया की पूर्वनिर्मित पूर्ण योजना की द्योतक न होकर, अनेक विविधतापूर्ण क्रियाओं में ऐसा संतुलन कायम रखने

की द्योतक है जिसमें प्रत्येक क्रिया प्रत्येक दूसरी क्रिया को महत्व प्रदान करती है। कोई भी व्यक्ति जिसका खुला मन होता है तथा जो नए प्रत्यक्षों के प्रति संवेदनशील होता है उसकी प्रवृत्ति, उस हद तक दार्शनिक होती है। दार्शनिकता का आम तौर पर यह अर्थ लगाया जाता है कि वह कठिनाई तथा हानि होने की अवस्था में भी शांति तथा धैर्य रखने की द्योतक है; यहां तक कि पीड़ा को किसी शिकायत के बिना सहन करने की शक्ति का होना भी दार्शनिकता का बोध कराता है। दार्शनिकता का यह अर्थ उसके सामान्य गुण का बोध नहीं कराता वरन स्टोइकवादी दर्शन की प्रशंसनीयता का बोध कराता है। लेकिन यदि इस अर्थ से यह पता चलता है कि दर्शन के अवयवी होने का गुण अधिगम की एक शक्ति के रूप में है, अथवा अनुभव के अप्रिय अनुक्रमों से भी अर्थ ग्रहण करने की शक्ति के रूप में है, और जो कुछ सीखा गया है उससे आगे भी सीखना (अधिगम) जारी रखने की योग्यता अर्जित करने में है तो दर्शन की किसी भी योजना में उसका यह अर्थ न्यायोचित कहा जा सकता है। दर्शन की सामान्यता तथा परमत्व पर भी यही व्याख्या लागू होती है। यदि इन पदों को उनके शाब्दिक अर्थ के संदर्भ में देखा जाए तो सामान्यता और परमत्व के विषय में दर्शन का दावा बेतुका और प्रमादपूर्ण लगता है। फिर भी परमत्व का यह अर्थ नहीं है कि अनुभव का अंत हो जाता है, वह समाप्त हो जाता है वरन परमत्व अर्थ की सतह से और भी गहराई में जाकर किसी भी घटना अथवा वस्तु के संयोजनों का पता लगाने, और इस प्रयत्न में लगे रहने की प्रवृत्ति का द्योतक है। इसी प्रकार दार्शनिक मनोभाव इस रूप में सामान्य होता है कि वह किसी भी बात को एकल रूप में स्वीकार करने के विरुद्ध होता है; वह एक क्रिया को उसके उस संदर्भ में रखने का प्रयत्न करता है जिससे उस क्रिया को महत्व मिलता है।

दर्शन को चिंतन से जोड़ने से यह समझने में सहायता मिलती है कि दर्शन और ज्ञान के बीच अंतर है। ज्ञान, तथ्यात्मक ज्ञान, विज्ञान है; वह ऐसी वस्तुओं को प्रतिलक्षित करता है जो तर्कविवेक के आधार पर निश्चित, क्रमबद्ध और निर्धारित कर दी गई हैं। इसके विपरीत चिंतन अपने संदर्भ में पुरोलक्षी होता है। वह अनिश्चितता के परिणामस्वरूप अस्तित्व ग्रहण करता है तथा उसका लक्ष्य विशृंखलता का अंत करना होता है। जो कुछ ज्ञात है उसके प्रति हमसे क्या अपेक्षित है, उसके प्रति हमारी प्रतिक्रियात्मक दृष्टि क्या होती, यह चिंतन ही दर्शन है। जो कुछ संभव है, उससे संबंधित विचार ही दर्शन है, उस तथ्य का रिकार्ड नहीं है जो घटित हो चुका है। अतः, सभी प्रकार के चिंतनों की भांति, वह प्राक्कल्पनात्मक है। जो कुछ किया जाना है, जिसका परीक्षण किया जाना है, उसका निर्देश कथन ही दर्शन है। उसकी उपयोगिता समाधान प्रस्तुत करने में नहीं है (जिसकी उपलब्धि केवल क्रिया में ही हो सकती है) वरन कठिनाइयों की व्याख्या करने तथा उनसे निबटने की विधियां बताने में है। दर्शन का वर्णन ऐसे चिंतन के रूप में भी किया जा सकता है जिसमें आत्मचेतना है, (जिसमें इस बात का सामान्यीकरण हो चुका है कि अनुभव में उसका क्या स्थान है) कार्य और मूल्य है।

अधिक विशिष्ट रूप में कहा जाए तो, 'समग्र' दृष्टि की आवश्यकता इसलिए पैदा होती है क्योंकि जीवन की परस्पर विरोधी विभिन्न अभिरुचियों के प्रति की जाने वाली क्रिया में समन्वय की आवश्यकता होती है। जब अभिरुचियां इतनी सतही होती हैं कि एक अभिरुचि दूसरी अभिरुचियों में आसानी से प्रविष्ट हो जाती है, अथवा जब वे इतनी आयोजित नहीं होतीं कि उनमें आपसी संघर्ष हो, तब दर्शन की आवश्यकता प्रत्यक्ष नहीं होती। लेकिन जब वैज्ञानिक अभिरुचि का किसी अन्य अभिरुचि से, उदाहरणार्थ, धार्मिक अभिरुचि से अथवा आर्थिक अभिरुचि का वैज्ञानिक अथवा सौंदर्य विषयक अभिरुचि से संघर्ष होता है, अथवा जब व्यवस्था से संबंधित रूढ़िवादी अभिरुचि स्वतंत्रता की प्रगतिशील अभिरुचि के विरुद्ध होती है, अथवा जब संस्थावाद का वैयक्तिकता से टकराव होता है, तब ऐसा दृष्टिकोण खोजने के लिए प्रेरणा मिलती है जो अपेक्षाकृत अधिक व्यापक हो जिससे इन विरोधों को दूर किया जा सके और अनुभव की संगति अथवा निरंतरता को कायम रखा जा सके। प्रायः यह संभव है कि कोई व्यक्ति अपनी अभिरुचियों में होने वाले संघर्षों को स्वयं निबटा ले; ऐसी स्थिति में लक्ष्यों के संघर्ष का क्षेत्र सीमित होता है और एक व्यक्ति इन संघर्षों का थोड़ा बहुत संधान स्वयं कर लेता है। ऐसी व्यक्तिगत दार्शनिकता वास्तविक और प्रायः उपयुक्त होती है। लेकिन उसके परिणामस्वरूप कोई दार्शनिक प्रणाली निर्मित नहीं होती। ये प्रणालियां तब निर्मित होती हैं जब आचरण के विभिन्न आदर्शों के विरोधी दावे संपूर्ण समाज को प्रभावित करते हैं और सामान्य रूप से पुनः समायोजन की आवश्यकता होती है।

उपरोक्त कुछ बातों से यह स्पष्ट होता है कि दार्शनिक मतों के विरुद्ध कैसी आपत्तियां की जाती हैं। जैसे कि विभिन्न दर्शनों के बारे में यह आपत्ति की जाती है कि उनमें वैयक्तिक परिकल्पना होती है, उनमें विवादपूर्ण वैविध्य होता है; यह तथ्य भी आपत्ति का कारण है कि दर्शन में विभिन्न प्रकार से कथित एक ही प्रकार के प्रश्नों पर निरंतर चिंतन किया जाता है। निस्संदेह, ऐतिहासिक दर्शनों में न्यूनाधिक रूप से ये सभी लक्षण होते हैं। लेकिन ये आपत्तियां दर्शनों के प्रति उतनी नहीं हैं जितनी मानव प्रकृति के प्रति हैं और उस संसार के प्रति भी हैं जिनमें मानव समाज बनता है। यदि जीवन में वास्तविक अनिश्चितताएं हैं तो वे दर्शनों में आवश्यक रूप से परिलक्षित होनी चाहिए। यदि किसी कठिनाई के कारण के परस्पर विरोधी निदान हैं, और उनसे निबटने के परस्पर विरोधी प्रस्ताव हैं; अर्थात, यदि विभिन्न समूहों के व्यक्तियों के हितों के बीच विरोध है तो आवश्यक रूप से विविध तथा प्रतिस्पर्धी दर्शन भी होंगे। जो कुछ घटित हो चुका है उसके बारे में आवश्यक सहमति तथा निश्चितता लाने के लिए केवल इतना ही आवश्यक है कि उसका पर्याप्त प्रमाण हो। जो घटना घटित हो चुकी है स्वयं उसमें निश्चितता होती है। लेकिन किसी जटिल परिस्थिति में क्या करना बुद्धिमानी है, इस विषय में चर्चा ठीक इसी कारण अनिवार्य हो जाती है कि वह बात स्वयं अनिर्धारित होती है। हम यह अपेक्षा नहीं कर सकते कि समाज का जो वर्ग सुविधापूर्ण जीवन व्यतीत करता है उसका जीवन दर्शन वही होगा जो उस वर्ग का होगा जिसे जीवित

रहने के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यदि संपन्न और अभावग्रस्त लोगों की विश्व के प्रति मौलिक प्रवृत्ति एक समान हो तो इसका अर्थ यही होगा कि या तो उनमें सत्यनिष्ठा का या गंभीरता का अभाव है। जो समाज औद्योगिक उद्यमों में संलग्न होता है, वाणिज्य और व्यापार की गतिविधियों में सक्रिय रूप से संलग्न होता है उसके लिए यह संभव नहीं होता कि वह जीवन की आवश्यकताओं और संभावनाओं को उसी दृष्टि से देखे जिस दृष्टि से दूसरा देश देखता है जिसमें सुरुचिपूर्ण संस्कृति का स्तर तो ऊंचा है लेकिन जो प्राकृतिक ऊर्जा का यांत्रिक उपभोग करने की दिशा में कोई प्रयत्न नहीं करता। जिस सामाजिक समूह के इतिहास में पर्याप्त निरंतरता होती है उसकी किसी भी संकट के प्रति मानसिक अनुक्रिया उस समूह की अनुक्रिया से बहुत भिन्न होती है जिसके इतिहास में आकस्मिक व्यवधान आते रहे हों। यद्यपि दोनों के समक्ष दत्त सामग्री समान हो फिर भी उसके मूल्यांकन में भिन्नता होगी। लेकिन विभिन्न प्रकार के जीवन में होने वाले अनुभवों की विभिन्नता के कारण समान दत्त सामग्री प्रस्तुत नहीं हो पाती और मूल्यों की योजना में भी विभिन्नता होती है। जहां तक समस्याओं के समान होने की बात है, यह समानता जितनी दिखाई देती है उतनी यथार्थ रूप में नहीं होती। इसका कारण यह है कि उनसे संबंधित सभी चर्चाओं का अंतरण समकालीन उलझनों के रूप में होता है। लेकिन कुछ मौलिक दृष्टियों से जीवन में बार-बार वे ही समस्याएं पैदा होती हैं और उनमें यदि कोई परिवर्तन होता भी है तो सामाजिक संदर्भ में परिवर्तन होने के कारण होता है। ऐसे सामाजिक परिवर्तन में विज्ञानों का विकास भी शामिल है।

दार्शनिक समस्याएं सामाजिक व्यवहार में व्यापक रूप से आने वाली तथा व्यापक रूप से अनुभव की जाने वाली कठिनाइयों के कारण पैदा होती हैं। लेकिन यह तथ्य इस कारण छिप जाता है कि दार्शनिक एक विशेषज्ञों के वर्ग में परिणत हो जाते हैं और जिस भाषा में कठिनाइयों का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन किया जाता है उस भाषा का प्रयोग न करके तकनीकी शब्दावली का प्रयोग करते हैं। लेकिन जब कोई दार्शनिक व्यवस्था प्रभावी होती है तो उसका सामाजिक समायोजन के ऐसे कार्यक्रम से संबंध खोजा जाता है जिसकी विरोधी हितों के संघर्ष के कारण आवश्यकता होती है। दर्शन और शिक्षा के बीच जो घनिष्ठ संबंध है वह ऐसे समय पर ही प्रकट होता है। वास्तव में, शिक्षा ही वह उपयुक्त स्थल है जिसके द्वारा दार्शनिक चर्चाओं के तकनीकी महत्व के स्थान पर मानवीय महत्व का प्रवेश कराया जा सकता है। दर्शन का दर्शन के रूप में अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के सामने सदा ही यह खतरा रहता है कि वह दर्शन को अति सूक्ष्म तथा कठिन बौद्धिक अभ्यास समझता है, ऐसी वस्तु समझता है जो दार्शनिकों ने कही है और जिसका संबंध केवल दार्शनिकों से है। लेकिन जब दार्शनिक प्रश्नों को उन मानसिक प्रवृत्तियों के दृष्टिकोण से देखा जाता है जिनके अनुरूप वे प्रश्न होते हैं, अथवा इस दृष्टि से देखा जाता है कि उनके अनुसार कार्य करने से शैक्षिक व्यवहार में क्या अंतर पैदा होता है तो जीवन की वे परिस्थितियां भी अदृश्य नहीं रहतीं। यदि किसी सिद्धांत से शैक्षिक प्रयत्न में कोई अंतर नहीं आता तो वह सिद्धांत

निश्चित रूप से कृत्रिम है। शैक्षिक दृष्टिकोण में हम यह जानने योग्य होते हैं कि दार्शनिक समस्याएं कहां पैदा होती हैं, कहां बनी रहती हैं, कहां पनपती हैं और कहां उन्हें स्वीकार या अस्वीकार करने से शैक्षिक व्यवहार में अंतर पैदा होता है।

यदि हम शिक्षा की यह संकल्पना करने को सहमत हों कि शिक्षा, प्रकृति तथा सहजीवी मानवों के प्रति मौलिक बौद्धिक तथा संवेगात्मक प्रवृत्तियों के निरूपण की प्रक्रिया है तो दर्शन की परिभाषा शिक्षा के सामान्य सिद्धांत के रूप में भी की जा सकती है। यदि दर्शन केवल प्रतीकात्मक (अथवा शाब्दिक) या गिने चुने लोगों का शौक या मनमाना हठधर्म बना रहे तो दूसरी बात है अन्यथा यह आवश्यक है कि उसके द्वारा किया गया विगत अनुभव का लेखाजोखा और उसकी मूल्ययोजना आचरण में प्रभावी रूप ले। स्वभाव में जिस प्रकार के परिवर्तन की वांछनीयता को दर्शन निर्दिष्ट करता है वह परिवर्तन लाने के लिए जन आंदोलन, प्रचार, विधासंबंधी तथा प्रशासनिक क्रियाएं केवल उसी हद तक प्रभावी होती हैं जिस हद तक वे शैक्षिक होती हैं, अर्थात जिस हद तक वे मानसिक और नैतिक मनोभावों को परिवर्तित करती हैं। साथ ही, स्वभाव में परिवर्तन लाने के ये तरीके चाहे जितने अच्छे हों लेकिन उनमें यह कमी होती है कि उनका प्रयोग जिन लोगों में परिवर्तन लाने के लिए किया जाता है, उनकी आदतें अधिकांशतः पहले से ही बन चुकी होती हैं, जबकि युवाओं की शिक्षा का कार्यक्षेत्र अपेक्षाकृत अधिक निरपेक्ष तथा उन्मुक्त होता है। दूसरी ओर, जब तक स्कूली शिक्षा के कार्य के लक्ष्यों तथा प्रणालियों को जीवंत नहीं बनाया जाता तब तक उनमें (औपचारिक) तथा उपयोगितावादी होने की प्रवृत्ति रहती है; समकालीन जीवन में शिक्षा का क्या स्थान है, इस विषय में व्यापक तथा सहानुभूतिपूर्ण सर्वेक्षण के द्वारा ही उन लक्ष्यों तथा प्रणालियों को जीवंत बनाया जा सकता है और ऐसा सर्वेक्षण करना दर्शन का काम है।

विद्या से जुड़े विज्ञान में यथार्थतः वे लक्ष्य निहित होते हैं जिनकी उपलब्धि से समाज का सरोकार होता है। यदि विज्ञान को इन लक्ष्यों से अलग रखा जाए तो यह चिंतन का विषय नहीं रहता कि उसके द्वारा किए गए तथ्यों के उद्घाटन से रोग का निवारण होता है या रोग फैलता है; जीवन को कायम रखने के साधनों में वृद्धि होती है या जीवन को मिटाने के लिए युद्ध सामग्री का निर्माण होता है। यदि समाज की अभिरुचि इन लक्ष्यों में से एक की अपेक्षा दूसरे में होती है तो विज्ञान उनको प्राप्त करने का मार्ग दिखाता है। इस प्रकार दर्शन का काम दोहरा होता है : एक काम तो यह होता है कि विज्ञान की मौजूदा स्थिति के संदर्भ में विद्यमान लक्ष्यों की आलोचना करे, साथ ही, नए संसाधनों पर अधिकार होने से जो मूल्य अव्यवहार्य हो गए हैं उनको निर्दिष्ट करे, और यह बताए कि कौन से मूल्य केवल भावनात्मक हैं क्योंकि उनकी पूर्ति के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं हैं; और दूसरा काम यह है कि विशेषज्ञतापूर्ण विज्ञान के परिणामों का भावी सामाजिक स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ सकता है, इसकी व्याख्या करे। इन कामों में दर्शन को तब तक सफलता मिलना संभव नहीं है जब तक उसके ऐसे शैक्षिक समतुल्य न हों जिनसे यह पता लग सके कि क्या करना

है और क्या नहीं करना है। क्योंकि दार्शनिक सिद्धांत के पास कोई अलादीन का चिराग नहीं होता जिसके द्वारा वह उन मूल्यों को तुरंत अस्तित्व में ला सके जिनकी वह बौद्धिक रचना करता है। यांत्रिक कलाओं में, विज्ञान उन प्रणालियों का रूप ले लेता है जिनके द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों की उपलब्धि के लिए वस्तुओं की ऊर्जा का उपयोग करने के उद्देश्य से उन पर नियंत्रण किया जाता है। शैक्षिक कलाओं के द्वारा दर्शन ऐसी विधियों को निर्मित कर सकता है जिनका प्रयोग जीवन की गंभीर तथा चिंतनपूर्ण संकल्पनाओं के अनुरूप मानवीय ऊर्जा का उपयोग करने के लिए किया जा सकता है। शिक्षा वह प्रयोगशाला है जिसमें दार्शनिक विशिष्टताएं ठोस रूप लेती हैं और उनका परीक्षण होता है।

यह तथ्य भी एक अर्थ का द्योतक है कि यूरोपीय दर्शन की उत्पत्ति (एथीनियनों में) शैक्षिक प्रश्नों के प्रत्यक्ष दबाव के कारण हुई। इससे पूर्व जिस दर्शन का ग्रीक लोगों ने एशिया माइनर तथा इटली में विकास किया उसमें जो प्रकरण शामिल थे, वे मुख्यतः विज्ञान के इतिहास के एक अध्याय के रूप में थे, उस रूप में नहीं थे जिस रूप में आज दर्शन शब्द का अर्थ लगाया जाता है। उसका विषय प्रकृति थी, और उसमें यह परिकल्पना की जाती थी कि वस्तुएं कैसे बनती हैं और कैसे परिवर्तित होती हैं। बाद में 'सोफिस्ट' कहलाने वाले घुमंतू शिक्षकों ने प्राकृतिक दार्शनिकों के परिणामों तथा प्रणालियों को मानवीय आचरण पर लागू करना शुरू किया।

जब सोफिस्टों ने, जो यूरोप के पहले पेशेवर शिक्षक थे, युवाओं को सद्गुणों, राजनीतिक कलाओं, और नगर तथा घरवार के प्रबंध का शिक्षण देना शुरू किया तब व्यक्ति के सार्वलौकिक तत्व से, एक व्यापक वर्ग से, अथवा किसी समूह से संबंध; मनुष्य तथा प्रकृति के संबंध, परंपरा तथा विचारण के संबंध, ज्ञान तथा क्रिया के संबंध दर्शन के विषय बन गए। ऐसे प्रश्न उठने लगे कि क्या सद्गुणों का, किसी भी दिशा में श्रेष्ठता को सीखा (अधिगम) जा सकता है? अधिगम क्या है? उसका ज्ञान से क्या संबंध है। तब ज्ञान क्या है? वह कैसे प्राप्त होता है? क्या वह इंद्रियों के द्वारा प्राप्त होता है, या किसी प्रकार के कार्य में शिशुक्षता से प्राप्त होता है, अथवा क्या ऐसी तर्कबुद्धि के द्वारा प्राप्त होता है जो प्राथमिक तार्किक अनुशासन से उत्पन्न हुई है? क्योंकि अधिगम से ज्ञान प्राप्त किया जाता है अतः उसमें, ग्रीक भाषावली के अनुसार, अज्ञान से प्रज्ञा की ओर, अभाव से संपन्नता की ओर, दोष से निर्दोषता की ओर, अनस्तित्व से अस्तित्व की ओर प्रस्थान होता है। ऐसा संक्रमण कैसे संभव है? क्या परिवर्तन, परिणति, विकास वास्तव में संभव है और यदि हो तो कैसे? और मान लीजिए कि इन प्रश्नों का उत्तर मिल जाए, तो शिक्षण का, ज्ञान का सद्गुण से क्या संबंध है?

उपरोक्त अंतिम प्रश्न से तर्कबुद्धि से क्रिया के और सिद्धांत से व्यवहार के संबंधों को लेकर समस्या खड़ी हुई क्योंकि सद्गुणों का अस्तित्व स्पष्टतः क्रिया में ही होता है। क्या ज्ञान प्राप्त करना तर्कबुद्धि की क्रिया नहीं है और क्या यह मनुष्य का उच्चतम गुण नहीं है? और, परिणामतः क्या शुद्धतः बौद्धिक क्रियाकलाप उच्चतम श्रेष्ठता नहीं है, जिसकी तुलना

में अच्छा पड़ोस होने की भावना तथा नागरिक जीवन के सद्गुण गौण हैं? अथवा क्या, इसके विपरीत, प्रशंसित बौद्धिक ज्ञान अपेक्षाकृत निस्सार दांभिक दिखावा नहीं है, जो चरित्र के मनोबल को क्षीण करता है और उन सामाजिक बंधनों को नष्ट करता है जो मनुष्यों को उनके सामुदायिक जीवन से जोड़ते हैं? क्या एकमात्र नैतिक होने के कारण एकमात्र यथार्थ जीवन समाज की प्रथागत रीतियों के अनुपालन के अभ्यास से प्राप्त नहीं होता? और क्या नई शिक्षा अच्छी नागरिकता की विरोधी नहीं है क्योंकि वह समाज के स्थापित मानकों के विपरीत मानक स्थापित करती है?

दो या तीन पीढ़ियों के कालांतर में ये प्रश्न शिक्षा पर व्यावहारिक रूप से पड़ने वाले प्रभाव से जुड़े नहीं रहे और उन पर स्वतंत्र रूप से चर्चा होने लगी; अर्थात अन्वेषण की स्वतंत्र शाखा के दर्शन से संबंधित विषयों के रूप में उन पर चर्चा होने लगी। लेकिन दार्शनिक चिंतन की यूरोपीय धारा शैक्षिक प्रक्रिया से उत्पन्न हुई, यह तथ्य इस बात का प्रकट प्रमाण है कि दर्शन और शिक्षा के बीच घनिष्ठ संबंध था। 'शिक्षा का दर्शन' पूर्वनिर्मित विचारों का व्यवहार की ऐसी प्रणाली पर बाह्य प्रयोग नहीं है जिसकी उत्पत्ति और जिसके प्रयोजन मौलिक रूप से भिन्न थे; वह तो केवल समकालीन सामाजिक जीवन के संबंध में सही मानसिक तथा नैतिक आदतें निर्मित करने की समस्या का स्पष्ट निरूपण है। अंतःदर्शन की जो अत्यंत सूक्ष्मभेदी परिभाषा की जा सकती है वह यही है कि वह शिक्षा की अधिकतम सामान्य अवस्थाओं का सिद्धांत है।

अतः दर्शन का, शिक्षा का तथा सामाजिक आदर्शों और प्रणालियों का पुनर्निर्माण साथ-साथ होता है। यदि वर्तमान समय में शैक्षिक पुनर्निर्माण की विशेष आवश्यकता है, यदि इस आवश्यकता के कारण पारंपरिक दर्शनों के आधारभूत विचारों की विशेष आवश्यकता है तो विज्ञान की उन्नति तथा औद्योगिक क्रांति की प्रगति और लोकतंत्र के विकास के कारण ऐसा हुआ है।

इस प्रकार, दर्शन, शिक्षा, और सामाजिक आदर्शों के पुनर्निर्माण का काम साथ-साथ चलता है। यदि वर्तमान समय में शैक्षिक पुनर्निर्माण की विशेष आवश्यकता है, और यदि इस आवश्यकता के कारण पारंपरिक दार्शनिक व्यवस्थाओं पर पुनर्विचार करने की तात्कालिक आवश्यकता है तो इसका कारण यह है कि विज्ञान की उन्नति, औद्योगिक क्रांति और लोकतंत्र के विकास के साथ-साथ सामाजिक जीवन में व्यापक परिवर्तन हो गया है। ऐसे व्यावहारिक परिवर्तन तब तक नहीं हो सकते जब तक उनके लिए आवश्यक शैक्षिक पुनर्निर्माण न किया जाए और जब तक मनुष्यों को यह जानने के लिए प्रेरित न किया जाए कि उन सामाजिक परिवर्तनों में कौन से आदर्श निहित हैं, और जो आदर्श तथा विचार पुरानी असंगत संस्कृतियों से विरासत में मिले हैं उनमें किस प्रकार का पुनरीक्षण करने की आवश्यकता है। प्रसंगानुसार पूरी पुस्तक में विशेषकर पिछले कुछ अध्यायों में हमने इन्हीं प्रश्नों की उस रूप में चर्चा की है जिस रूप में वे मन तथा शरीर, सिद्धांत तथा व्यवहार, मानव तथा प्रकृति के संबंधों और व्यक्तिगत तथा सामाजिक संबंधों आदि को प्रभावित करते हैं। अपने अंतिम

अध्यायों में हम पूर्व चर्चाओं का सार पहले ज्ञान के और बाद में ज्ञान के संदर्भ में प्रस्तुत करेंगे।

सारांश : पूर्व चर्चाओं में अंतर्निहित दार्शनिक प्रश्नों को स्पष्ट करने के उद्देश्य से किए गए पुनरीक्षण के बाद दर्शन की परिभाषा शिक्षा के सामान्यीकृत सिद्धांत के रूप में की गई। यह कहा गया कि दर्शन चिंतन का एक रूप है जिसकी, सभी प्रकार के चिंतनों के समान, अनुभव की अनिश्चित विषयवस्तु से उत्पत्ति होती है, जिसका लक्ष्य यह पता लगाना है कि द्विविधा का क्या स्वरूप है और, उसे दूर करने के लिए, ऐसी प्राक्कल्पना करना है जिसका परीक्षण क्रिया में किया जा सके। दार्शनिक चिंतन में यह वैशिष्ट्य होना चाहिए कि उसमें जिन अनिश्चितताओं की चर्चा की जाती है वे सामाजिक स्थितियों तथा लक्ष्यों में व्यापक रूप से उपस्थित हों और उनमें संगठित हितों तथा सांस्थानिक दावों के बीच संघर्ष हो। क्योंकि विरोधी मनोभावों के बीच अनुकूल पुनःसमायोजन करने का एकमात्र तरीका यह है कि संवेगात्मक तथा बौद्धिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन किया जाए, अतः दर्शन में तत्काल ही जीवन के विभिन्न हितों का स्पष्ट निरूपण तथा ऐसे दृष्टिकोणों तथा प्रणालियों का प्रतिपादन होता है जिनके द्वारा विभिन्न हितों के बीच बेहतर संतुलन कायम किया जा सकता है। क्योंकि शिक्षा ही वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से आवश्यक रूपांतरण किया जा सकता है और वह, जो कुछ वांछनीय है, केवल उसकी प्राक्कल्पना के रूप में नहीं रहती, अतः हमें इस कथन का औचित्य मिलता है कि दर्शन सोद्देश्य किए गए व्यवहार का सिद्धांत है।